5

पाठ्यक्रम में भाषा
भारतीय संदर्भ

अमरीन अली*

किसी भी देश की भाषा वहाँ की संस्कृति की वाहिका होती है। भाषा का अध्ययन एक तरह से संस्कृति का अध्ययन भी होता है। इसी प्रकार भारतीय संदर्भ में भी भाषा शिक्षण एक विशेष महत्त्व रखता है। प्रथम भाषा के रूप में हो या द्वितीय भाषा के रूप में या फिर तृतीय भाषा के रूप में भारत में अधिकांश छात्र इस भाषा के अध्ययन से गुजरते हैं। अतः देश की उभरती युवा पीढ़ी की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि उत्पन्न करने में हिंदी पाठ्यक्रमों तथा पाठ्यपुस्तकों का दायित्व काफ़ी बढ़ जाता है। भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रति इन शिक्षार्थियों की दृष्टि किस प्रकार की बनती है, यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि हिंदी पाठ्यपुस्तकों में तथा हिंदी अध्ययन-अध्यापन में उनकी इन सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रति किस प्रकार की धारणा विकसित की जाती रही है।

प्रस्तुत शोध पत्र में आलोचनात्मक पद्धति का प्रयोग कर यह देखने की चेष्टा की गयी है कि हिंदी पाठ्यक्रमों तथा पाठ्यपुस्तकों में भिन्न-भिन्न सामाजिक तथा सांस्कृतिक पहलू, भारतीय शिक्षा प्रणाली आदि के प्रति किस तरह की दृष्टि अपनाई गयी है।

पाठ्यक्रम में जब भी भाषा संदर्भों की चर्चा की जाती है तब सबसे महत्वपूर्ण पहलू जिस पर बात की जाती है वह है अर्जन की प्रक्रिया को अधिक सक्षम और सरल बनाना। भारतीय संस्कृति की विविधता को शिक्षा अर्जन की प्रक्रिया के संदर्भ में देखे जाने की आवश्यकता है विशेषकर पाठ्यपुस्तकों के संदर्भ में। पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में काफ़ी तत्वों का ध्यान रखने के बावजूद संस्कृति विशेष का वर्चस्व दिखता है। भारत के सरकारी स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों को ही अगर देखा जाए तो एक पहली बात जो ध्यान में आती है वह है — राष्ट्रीय स्तर पर पाठ्यपुस्तक का निर्धारण किया जाता है तथा बाद में उसका अनुवाद कर अन्य भाषिक प्रदेशों में भेजा जाता है। सांस्कृतिक स्तर पर देखा जाए तो यह भारतीय संस्कृति की विविधता को सही रूप में प्रस्तुत कर पाने में असफल सिद्ध होती है। भारतीय परिवेश में प्रत्येक राज्य स्तर पर भी अगर देखा जाए तो व्यापक विविधता देखने को मिलती है। पाठ्यपुस्तकों में सभी परिवेशीय विशेषताओं को

**शोधार्थी*, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नयी दिल्ली

प्रकट कर पाना असंभव हो जाता है इसलिए उन्हें मध्यम मार्ग अपनाना पड़ता है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस क्रम में हम अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की कई विशिष्टताओं से वंचित रह जाते हैं। इन सांस्कृतिक अस्मिताओं से परिचय का सबसे सशक्त और प्रभावी उपकरण मातृभाषा है। मातृभाषा के माध्यम से हम अपनी भावी पीढ़ी को समृद्ध सांस्कृतिक विरासत से न सिर्फ़ अवगत करा सकते हैं बल्कि संतुलित, सहज और सहिष्णु वातावरण का निर्माण भी कर सकते हैं। आज सहिष्णुता के प्रश्नों से हमारा समाज जूझ रहा है, सांस्कृतिक अस्मिताओं के टकराहट की स्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, धार्मिक विद्वेष की नयी परिस्थितियाँ भी हमारे समक्ष एक चुनौती की तरह आ खड़ी हो गयी हैं इन सभी प्रश्नों के जवाब को भी सांस्कृतिक अध्ययन के माध्यम से समझने का प्रयास किया जा सकता है। सह-अस्तित्व की अवधारणा को इस संदर्भ में देखा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति ने अपने इतिहास में कई संस्कृतियों को अपनाकर एक ऐसी संस्कृति का उदाहरण पेश किया, जिसमें हर अस्मिता और समुदाय को स्थान मिला। शिक्षा के स्तर पर भी इन मूल्यों को सहेजने की आवश्यकता है।

भाषा और संस्कृति किसी समुदाय के निरंतर परिवर्तनशील तत्व होते हैं। जो समयानुसार अपने आप को आवश्यकतानुसार ढाल लेते हैं। किंतु शिक्षा में आज जिस तरह क्षेत्रीय विशेषताओं की अवहेलना की जा रही है, पाठ्यपुस्तकों में एक तरह की सामग्री को स्थान दिया जा रहा है। केवल और केवल कुछ केंद्रीय बिंदुओं के आधार पर क्या हम अपने सांस्कृतिक मूल्यों को सही अर्थों में प्रेषित कर पा रहे हैं यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। भाषायी विविधता और सांस्कृतिक विविधता समान रूप से पाठ्यपुस्तकों के स्तर पर अवहेलनात्मक स्थिति में रहे हैं। आधुनिक शिक्षा में पहले-पहल सांस्कृतिक विविधता और भाषिक विविधता को अवरोध की तरह देखा गया। इस कारण एक भाषा, एक माध्यम जैसी सरलीकृत अवधारणाओं को अपनाया गया। बीसवीं सदी के अंत से इस अवधारणा में अब व्यापक अंतर आना शुरू हो चुका है। कई अध्ययन और शोध ये सिद्ध कर चुके हैं कि मातृभाषाओं में अधिगम अधिक सहज और स्थायी होता है — मातृभाषा के महत्त्व पर चर्चा करते हुए यूनेस्को द्वारा आयोजित संगोष्ठी में भाग लेने वाले विद्वान इस तथ्य पर एकमत थे कि मातृभाषा आज भी व्यक्ति के लिए समाज और संस्कृति के भीतर अपना स्थान ढूँढने और पाने का मुख्य साधन है और साथ ही वह उसके बौद्धिक व्यापार का आधार भी है। प्राथमिक स्तर पर शिक्षा को मातृभाषा में ही होना चाहिए। शोध यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि अधिक भाषाओं के ज्ञान से बौद्धिक विकास और अधिक क्षमताशील होता है। अब शिक्षा में प्रयोग और व्यवहार को भी तवज्जो दी जा रही है। इस कारण व्यवहारीकृत शिक्षा को शिक्षा नीतियों में स्थान मिल रहा है। सांस्कृतिक अध्ययन भी इसी व्यवहारीकृत शिक्षा का ही उदाहरण है।

भारतीय संदर्भ में पाठ्यपुस्तकों के स्तर पर देखा जाए तो पहली बात जो ध्यान में आती है वह यह है कि मातृभाषाओं का शिक्षण केवल भाषिक ज्ञान तक सीमित है उसमें सांस्कृतिक और सामजिक मूल्यों के लिए स्थान नहीं है। भारत के लंबे-चौड़े भौगोलिक स्वरूप में कई तरह के मौसम, स्थान, संस्कृति,

खान-पान, व्यवहार, रीति-रिवाज़, धर्म, संप्रदायों एवं मान्यताओं का व्यापक महत्त्व है। इस विविधता को आज तक पाठ्यपुस्तकों में मात्र पढ़ाकर समेट दिया जाता है। किसी भी प्रदेश के पाठ्यपुस्तक के मातृभाषा संस्करण को भी अगर देखा जाए तो उसमें उस प्रदेश की विशेषता के दर्शन नहीं होते। क्या पुस्तकों का अनुवाद मात्र उन्हें शिक्षण में सहजता प्रदान करता है या उसमें स्थानीय संस्कृति का समावेश भी आवश्यक है। हिंदी भाषा-भाषी समुदाय को अगर देखा जाए तो उसमें कई संस्कृतियाँ अंतर्निहित हैं। बोलियाँ उनका प्रतिनिधित्व करती हैं। शिक्षा में हिंदी के माध्यम से वह शिक्षा प्राप्त करता है, यह प्रथम भाषा से मातृभाषा की यात्रा होती है — बच्चा प्रथम भाषा से मातृभाषा की ओर बढ़ता है। शिक्षा और साक्षरता के लिए कोई भी बोली-भाषी, हिंदी को अपनाता है। यह भी कहा जा सकता है कि हिंदी समुदाय के लिए बोलियाँ उनकी प्रथम भाषा है और हिंदी मातृभाषा के रूप में सिद्ध भाषा है। हिंदी के सहारे ही इस भाषा समाज के लोग अपनी सामाजिक अस्मिता को स्थापित करते हैं। यही तथ्य अन्य बोलियों के संदर्भ में भी सत्य है। इस तरह से हम पाते हैं कि पाठ्यपुस्तकें अपनी संस्कृति का सीमित प्रतिनिधित्व कर पाती हैं। भाषा को यदि व्यापक परिप्रेक्ष्य में पढ़ाया जाए, मात्र अनुवाद सरलता के लिए प्रयोग न करके, विषयवस्तु में भी आवश्यकतानुसार यदि परिवर्तन किया जाए तो इस समस्या का निवारण किया जा सकता है।

एन.सी.एफ़. 2005 में भी इस बात पर बल दिया गया था कि यदि बच्चा मातृभाषा में शिक्षा ग्रहण करता है तो व्यापक संदर्भ में अपनी समझ विकसित करता है। व्यापक संदर्भ में वह इसलिए ग्रहणशील हो पाता है क्योंकि अन्य भाषा सीखने के अनावश्यक दबाव से मुक्त होकर वह ज्ञान अर्जित करता है।

> "बहुभाषिकता, जो बच्चे की अस्मिता का निर्माण करती है और जो भारत के भाषा परिदृश्य का विशिष्ट लक्षण है, उसका संसाधन के रूप में उपयोग, कक्षा की कार्यनीति का हिस्सा बनाना तथा उसे लक्ष्य के रूप में रखना रचनात्मक भाषा शिक्षक का कार्य है। यह केवल उपलब्ध संसाधन का बेहतर इस्तेमाल नहीं है, बल्कि इससे यह भी सुनिश्चित हो सकता है कि हर बच्चा स्वीकार्य और संरक्षित महसूस करे और भाषिक पृष्ठभूमि के आधार पर किसी को पीछे न छोड़ा जाए।"
>
> *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005*

प्रथम भाषा और मातृभाषा के रूप में वह भाषिक रूप से धीरे-धीरे सक्षम होना शुरू करता है। अगर उसी समय हम उस पर अन्य भाषा को माध्यम के रूप में सीखने पर जब विवश करते हैं तो उसकी ग्रहणशीलता को कम कर रहे होते हैं। इस प्रकार मातृभाषा में शिक्षा ग्रहण करने से ग्रामीण और दूर-दराज के बच्चों को भी पर्याप्त अवसर मिल पाता है और वह आत्मविश्वासी बनते हैं। शिक्षा व्यक्ति में हीनता नहीं, बल्कि आत्मविश्वास का ही परिचायक होती है, किंतु वर्तमान परिस्थितियों में भारतीय संदर्भ में यह एक विचारणीय प्रश्न है। यहाँ माध्यम मात्र की भाषा को सीखने में बच्चे अपनी ऊर्जा खर्च करते रहते हैं। गांधी जी ने भी मातृभाषा के संबंध में कहा है — 'मनुष्य के मानसिक विकास के लिए मातृभाषा

उतनी ही आवश्यक है जितना कि बच्चे के शारीरिक विकास के लिए माँ का दूध। बालक अपना पहला पाठ अपनी माता से ही पढ़ता है। इसलिए उसके मानसिक विकास के लिए मातृभाषा के अतिरिक्त कोई दूसरी भाषा लादना मैं मातृभूमि के खिलाफ समझता हूँ।' स्पष्ट है, गांधी जी इस बात को रेखांकित कर रहे थे कि मातृभाषा में अर्जन करना बच्चे की नैसर्गिक प्रक्रिया है बाद में यदि मातृभाषा अध्ययन का माध्यम बनेगी तो स्वाभाविक तौर पर ज्ञान अर्जन की प्रक्रिया ज़्यादा सक्षम एवं प्रभावी होगी। आज इस बात के महत्त्व को समझना होगा। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भी अपनी भाषा के महत्त्व को उठाया गया। व्यक्ति स्वं को अपने समाज से जुड़ा हुआ पाता है और अधिक प्रभावी रूप से अपनी अभिव्यक्ति कर पाता है। शिक्षा के संदर्भ में यह बात लागू होती है। अर्जन और अध्यापन की प्रक्रिया में हम इस बात को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं। अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक होना आज हमारी आवश्यकता भी है अन्यथा हम प्रचलित संस्कृति के आवरण में ढक जाएँगे और अपनी मौलिकता के नाम पर हम अपनी संपदा को सहेज नहीं पाएँगे।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के अनुसार द्विभाषिकता या बहुभाषिकता से निश्चित संज्ञानात्मक लाभ होते हैं। त्रिभाषा-फ़ॉर्मूला भारत की भाषा-स्थिति की चुनौतियों और अवसरों को संबोधित करने का एक प्रयास है। यह एक रणनीति है जिसे कई भाषाएँ सीखने के मार्ग को प्रशस्त करना चाहिए।

इसे कार्यरूप और भावरूप दोनों ही में अपनाने की आवश्यकता है। इसका प्राथमिक उद्देश्य भारत में बहुभाषिकता और राष्ट्रीय सद्भाव का प्रसार है। निम्नलिखित दिशा-निर्देश इन लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं—

- भाषा शिक्षण बहुभाषिक होना चाहिए, केवल कई भाषाओं के शिक्षण के ही अर्थ में नहीं, बल्कि रणनीति तैयार करने के लिहाज से भी ताकि बहुभाषिक कक्षा को एक संसाधन के तौर पर प्रयोग में लाया जाए।
- बच्चों की घरेलू भाषा(एँ), जैसा कि 3.1 में पारिभाषित किया गया है, स्कूल में शिक्षण का माध्यम होनी चाहिए।
- अगर स्कूल में उच्चतर स्तर पर बच्चों की घरेलू भाषा(ओं) में शिक्षण की व्यवस्था न हो, तो प्राथमिक स्तर की स्कूली शिक्षा अवश्य घरेलू भाषा(ओं) के माध्यम से ही दी जाए। यह आवश्यक है कि हम बच्चे की घरेलू भाषाओं को सम्मान दें। हमारे संविधान की धारा 350–क के मुताबिक, 'प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी भाषाई अल्पसंख्यक-वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा।'
- बच्चे प्रारंभ से ही बहुभाषिक शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। त्रिभाषा फ़ॉर्मूला को उसके मूलभाव के साथ लागू किए जाने की ज़रूरत है, ताकि वह बहुभाषी देश में बहुभाषी संवाद के माहौल को बढ़ावा दे।
- गैर-हिंदी भाषी राज्यों में, बच्चे हिंदी सीखते हैं। हिंदी प्रदेशों के मामले में, बच्चे वह भाषा सीखें जो उस इलाके में नहीं बोली जाती है। इन भाषाओं के अलावा आधुनिक भारतीय भाषा

के रूप में संस्कृत का अध्ययन भी शुरू किया जा सकता है।

- बाद के स्तरों पर क्षेत्रीय और विदेशी भाषाओं से परिचय करवाया जा सकता है।

> "साहित्य भी बच्चों की रचनाशीलता को बढ़ा सकता है। कोई कहानी, कविता या गीत सुनकर बच्चे भी स्वयं कुछ लिखने की दिशा में प्रवृत्त हो सकते हैं। उनको इसके लिए भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे अलग-अलग रचनात्मक अभिव्यक्ति के माध्यमों को आपस में मिलाएँ।"
>
> *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005*

भारतीय संदर्भों में शिक्षण प्रक्रिया की बात करते समय इस बात को भी ध्यान रखना आवश्यक है कि शिक्षा माध्यम की भाषा बनने के बाद उस भाषा का भी विकास होता है। उससे जुड़े संस्कृति और समुदाय का भी विकास होता है। इस तरह भाषा के माध्यम से हम एक पूरे समाज में स्वावलंबन की प्रक्रिया को लागू करते हैं। इस तरह मातृभाषा शिक्षण के माध्यम से हम बच्चों को स्वावलंबन की प्रक्रिया शुरू करते हैं और अनुभव सिद्ध ज्ञान के संचरण का भी प्रयास करते हैं। इस तरह की शिक्षा में सबसे अधिक इस बात पर बल होता है — मातृभाषा शिक्षण का एक प्रमुख उद्देश्य, बच्चे की भाषा को या तो उस स्तर तक पहुँचाना या उन गुणों से संयुक्त करना है जो मान्य शैक्षिक भाषा का स्तर या गुण है या शैक्षिक भाषा को पहले उन बच्चों की भाषा के स्तर पर उतर कर यह सिद्ध करना है जिनको शिक्षा देना लक्ष्य है और फिर शिक्षा के दौरान उनमें भाषा के उन रूपों का विकास करते हुए पढ़ाना है जो विषयवस्तु को समझने और उन्हें अनुभव सिद्ध कर अभिव्यक्त करने में सहायक हों। मातृभाषा शिक्षण वास्तव में स्वावलंबन की प्रक्रिया को सही रूप में लागू कर पाता है। अपने समाज और परिवेश के प्रति भी जागरूक करती है। नॉम चोम्स्की ने भी अपने अध्ययनों के माध्यम से इस बात पर बल दिया कि आधुनिक भाषा शिक्षण में मातृभाषाओं का व्यापक महत्त्व है। अर्जन की प्रक्रिया को सामर्थ्यपूर्ण रूप में लागू करने के लिए शिक्षा में मातृभाषाओं के महत्त्व स्वीकारना आवश्यक है।

शिक्षा के संदर्भ में भाषा के दो रूप होते हैं।

1. ज्ञानरूप — जिसमें स्वयं सिद्ध रूप और विषय माध्यम रूप शामिल होता है।
2. शक्ति रूप — भाषा की शक्ति के रूप में उसकी सांस्कृतिक संपदा निहित होती है। भाषा की यह शक्ति उसे ज्ञानार्जन की स्वाभाविकता की शक्ति से युक्त करती है।

बच्चे जब अपनी मातृभाषा से अलग भाषा को माध्यम रूप में अपनाते हैं तब वे लंबा समय उसे सीखने में लगाते हैं इस तरह वह लंबे समय तक भाषा के दूसरे रूप का लाभ उठा पाने में सफल नहीं हो पाते। भाषिक क्षमता के साथ परिवेशगत क्षमताएँ भी जुड़ी रहती हैं क्योंकि भाषा और समाज में कार्य-कारण संबंध होता है। समाज के संदर्भ में ही भाषा का अस्तित्व भी होता है। *लैंग्वेज पावर* का अध्ययन करते हुए विद्वानों ने यह भी पाया है कि आने वाली पीढ़ियाँ अपनी भाषिक महत्ता से वंचित होती जा रही हैं। भाषा की शक्ति में एक समाज की भी शक्ति अंतर्निहित रहती है — इस प्रकार से भाषा

एक ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना है, जो ऐतिहासिक रूप से समाज और संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ बदलती रहती है। अपनी भाषा से दूर होने की स्थिति में हम अपने परिवर्तनों और विकास को भी सही ढंग से समझ पाने में सक्षम नहीं हो पाएँगे क्योंकि अपनी भाषा के त्याग के साथ उसके साथ जुड़ा इतिहास और संस्कृति का भी हम त्याग कर देंगे।

निष्कर्ष

भाषा से जुड़े नए अध्ययनों में यह सिद्ध हुआ है कि मातृभाषा में अर्जन प्रक्रिया बच्चों को अधिक क्षमताशील बनाती है, आधुनिक शिक्षा में मातृभाषा में शिक्षा देने की आवश्यकता पर बल दिया जा रहा है। अतः इस दृष्टिकोण के अनुसार मातृभाषा शिक्षण का प्रयोजन भाषा को कौशल रूप में पढ़ाना है। भाषा अगर कौशल रूप में पढ़ाई जाएगी तो भाषा के साथ जुड़ी कई और विशेषताओं से भी भावी पीढ़ी समृद्ध होगी। वह अपने सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति भी अधिक सचेत होंगे तथा उनमें अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति भी एक सहज स्वभाविक समझ विकसित होगी। मातृभाषा को पाठ्यक्रम में शामिल करने से व्यवहारीकृत शिक्षा को सही रूप में लागू किया जा सकता है क्योंकि अर्जन और व्यवहार की भाषा समान होगी। बच्चा जिस भाषा में संप्रेषण अथवा व्यवहार कर रहा होगा उसी भाषा में शिक्षा भी ग्रहण करेगा। प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा के प्रयोग के बाद माध्यमिक स्तर पर उन्हें अन्य भाषाएँ सिखाई जा सकती हैं। इससे वह बौद्धिक रूप से और अधिक समृद्ध होगा। आधार मज़बूत होने के कारण उसकी आगे की शिक्षण क्रिया सहज रूप में विकसित होगी। निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि आज की शिक्षा पद्धति में मातृभाषा महत्वपूर्ण है। सशक्त और प्रभावी शिक्षण के लिए मातृभाषाओं को शिक्षण का माध्यम बनाना चाहिए।

संदर्भ

अग्निहोत्री, रमाकांत. 2008. *भाषा और भूमंडलीकरण*. संस्थान प्रकाशन, दिल्ली.

सिंह, दिलीप. 2010. *अन्य भाषा शिक्षण के बृहत संदर्भ*. वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

सिंह, महिपाल. 2008. *विश्व बाज़ार में हिंदी*. वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

श्रीवास्तव, रविन्द्रनाथ. 2005. *भाषा शिक्षण*. वाणी प्रकाशन, दिल्ली.